



दैनिक भास्कर

Date:11-11-21

आयरन युक्त चावल देने की योजना कितनी कारगर?

रीतिका खेड़ा, (अर्थशास्त्री दिल्ली आईआईटी में पढ़ाती हैं)



हाल ही में केंद्र सरकार ने घोषणा की कि जन वितरण प्रणाली के चावल को आयरन से फॉर्टीफाइ (अधिक मजबूत या पोषक बनाना) करेगी। इसे एनीमिया (खून की कमी) के खिलाफ एक अहम कदम बताया जा रहा है। लेकिन सवाल यह है कि यह एनीमिया के खिलाफ कितना कारगर साबित होगा?

देश के आधे से ज्यादा बच्चे और महिलाएं खून की कमी (एनीमिया) से पीड़ित हैं। डॉक्टरों के अनुसार एनीमिया के कई कारण हैं, जैसे खुराक में आयरन की कमी, शरीर की आयरन ग्रहण करने की क्षमता में कमी, आदि। अनुमानित आधे एनीमिक (एनीमिया पीड़ित) लोगों में आयरन की कमी इसका कारण है। यानी, जिन्हें अन्य कारणों से एनीमिया है, उन्हें इस सरकारी कदम से लाभ नहीं होगा। डॉक्टरों का मानना है कि

ज़रूरत से ज्यादा आयरन से स्वास्थ्य को नुकसान भी हो सकता है।

एनीमिया दूर करने के लिए आयरन की कमी की जांच व उसकी सही मात्रा भी ज़रूरी है। आयरन खाली पेट लेना चाहिए, भोजन के साथ लेने से शरीर इसे कम ग्रहण करता है। नेशनल हेल्थ सर्विस ने आयरन की कमी से एनीमिया होने पर दिन में 210-420 मिग्रा आयरन लेने की सलाह दी है। चावल में मिलाया जाने वाला आयरन पाउडर इस मात्रा से कई गुना कम है। सूचना के अनुसार, एक किलो चावल में 28-42.5 मिग्रा आयरन मिलाने का प्रस्ताव है। यदि दिन में कोई एक किलो आयरन-परिपूर्ण चावल भी खा ले तो एनीमिया कम होने की कितनी उम्मीद है?

सरकारी नीति के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी देते हुए, खाद्य सचिव ने बताया कि इस योजना को लागू करने से पहले सरकार ने 15 ज़िलों में इसे प्रयोग के रूप में चलाया। कोई भी बड़ी नीति लागू करने से पहले प्रयोग करना ज़रूरी भी है और इसमें समझदारी भी है, क्योंकि इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि नीति कितनी कारगर सिद्ध होगी।

खाद्य सचिव के अनुसार इसे लागू करने में बड़ी चुनौतियां हैं और इस प्रयोग के नतीजे निराशाजनक रहे हैं। पंद्रह में से केवल 11 ज़िलों में इसे लागू कर पाए। प्रयोग में आई आपूर्ति से संबंधित चुनौतियों का उल्लेख किया गया। आयरन को चावल में मिश्रित करने के यंत्र, उसे मिश्रित करने की प्रणाली, एकरूपता से मिश्रण करने के वैज्ञानिक तरीकों की ज़रूरत, इन सब व्यवस्थाओं में क्या मुश्किल आई, उसे विस्तार से बताया।

उदाहरण के लिए, चावल को आयरन, फॉलिक एसिड और विटामिन बी-12 से परिपूर्ण करने के लिए, चावल का आटा बनाकर, उसमें यह प्री-मिक्स (मिश्रण) मिलाकर, फिर उसे चावल के दाने के रूप में पुनर्संशुद्ध करने का प्रस्ताव है। इन दानों को बाकी चावल के साथ समान रूप से मिलाकर (ठीक से न होने पर इनसे स्वास्थ्य को नुकसान हो सकता है) पैक किया जाएगा। इन दानों का बिल्कुल चावल के दाने समान दिखना ज़रूरी है, वरना उन्हें चावल की 'सफाई' करते समय कंकड़ समझकर फेंक दिया जाएगा।

उल्लेखनीय यह है कि इस पूरी व्यवस्था में कितने किस्म के निजी खिलाड़ी भी हैं (जैसे प्री-मिक्स सप्लायर, यंत्र के सप्लायर, इत्यादि)। इससे निजी खिलाड़ियों पर नियंत्रण और निगरानी के सवाल भी उठते हैं। कौन सुनिश्चित करेगा कि इस पूरी प्रक्रिया का वे निर्देशानुसार पालन करेंगे?

प्रयोग में हुई चुनौतियों के बावजूद सचिव का कहना है कि इसे अब व्यापक रूप से लागू किया जाएगा। क्यों? इस सवाल पर उन्होंने बताया कि इस प्रक्रिया के सभी साझेदारों को आश्वासन की ज़रूरत थी कि वह इसमें जो निवेश करेंगे, उसमें उनके लिए 'बिजनेस प्रोजेक्शन' (व्यापारिक लाभ) क्या है।

उनकी पूरी बात सुनकर यह सवाल ज़रूर उठता है कि इस नीति को किसके लिए लागू किया जा रहा है। क्या इसे प्री-मिक्स सप्लायर व मिश्रण करने वाले कारखानों के लिए मांग की गारंटी बनाए रखने के लिए ला रहे हैं?

यदि एनीमिया के खिलाफ कदम उठाने हों, तो क्या सभी को (बिना यह देखे कि उन्हें आयरन की ज़रूरत है भी या नहीं) इतनी कम मात्रा में, चावल के साथ आयरन मिलाकर देना समझदारी भरा नीति-उपाय है, जहां उसे पकाते समय कंकड़ समझकर फेंक देने और नुकसान पहुंचने (जैसे विषाक्तता) की आशंका हो?

चावल के फॉर्टिफिकेशन का निर्णय एक उदाहरण है जिससे यह पता चलता है कि कैसे टेक्नोक्रेसी (तकनीकी तंत्र), विज्ञान-विरोधी हो सकती है और निजी क्षेत्र के हित को प्राथमिकता देती है, न कि जनहित को।

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों और आंगनवाड़ियों में, जहां खून की जांच हो रही है, वहां एनीमिक जनसंख्या को चिह्नित करके, उन्हें आयरन की गोलियां देना बेहतर नहीं होगा? साथ ही क्या लोगों में पोषण शिक्षा नहीं बढ़ाना चाहिए, जैसे आयरन किन खाद्य पदार्थों में अच्छी मात्रा में उपलब्ध है या इसे ग्रहण करने की दर को बढ़ाने के लिए विटामिन-सी की कितनी अहम भूमिका है, इत्यादि। इनका लंबे समय में लाभ होगा और इससे सरकारी हस्तक्षेप की भी कम ज़रूरत पड़ेगी। इन उपाय को भारत समेत दुनियाभर में सफलता पूर्वक आजमाया गया है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:11-11-21

कृषि जोखिम और बचाव

संपादकीय

इस समय कृषि जिंसों की अंतरराष्ट्रीय कीमतें भी ऊंची बनी हुई हैं लेकिन इसी बीच देश में खरीफ की ताजा फसल सरकार द्वारा तय न्यूनतम कीमतों से भी कम दाम पर बिक रही है। अक्टूबर के आधिकारिक कृषि मूल्य आंकड़ों से संकेत मिलता है कि खरीफ की विभिन्न फसलें अपने तय न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) से औसतन 33 फीसदी नीचे बिकीं। कपास और गन्ने जैसी कुछ फसलें अवश्य अपवाद रहीं। मूंगफली और सोयाबीन जैसी तिलहनी फसलों में भी हाल के महीनों में तेजी देखने को मिली लेकिन सरकार ने महत्वपूर्ण आयातित खाद्य तेलों पर बुनियादी आयात शुल्क को धीरे-धीरे घटाकर इस रुझान को समेट दिया। यह सही है कि फसल कटाई के बाद जब फसल बिक्री चरम पर होती है, उस समय कृषि उपजों की कीमत में गिरावट आना स्वाभाविक है लेकिन इस वर्ष किसान आंदोलन के कारण इस पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। आंदोलनकारी किसानों की दो प्रमुख मांगों में एक यह भी है कि एमएसपी को वैधानिक बनाया जाए। उनकी दूसरी मांग तीन नए विवादास्पद कृषि कानूनों को रद्द करने की है। ग्राहकों के लाभ के लिए मुद्रास्फीति को कम रखने के लिए कृषि उपज की कीमतों को कम रखना, उत्पादकों यानी किसानों को उचित मूल्य मिलने से रोकता है। इससे उपभोक्ताओं और उत्पादकों के हितों का अत्यधिक वांछित संतुलन बिगड़ता है। यह कृषि से जुड़ी आय को भी प्रभावित करता है जो वस्तुओं और सेवाओं की मांग को निर्धारित करती है।

मौजूदा हालात को देखें तो समर्थन मूल्य की अवधारणा ही सवालों के घेरे में आ गई है। अगर कागज पर ही रह जाना है तो 20 से अधिक फसलों के लिए नियमित रूप से एमएसपी की घोषणा करने और समय-समय पर उसमें इजाफा करने का औचित्य ही क्या है? राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय द्वारा हाल ही में जारी की गई कृषि के हालात संबंधी राष्ट्रीय रिपोर्ट दर्शाती है कि कुल उपज का केवल 24.7 फीसदी हिस्सा ही एमएसपी से ऊंचे दाम पर बिकता है। ऐसे हालात उचित नहीं हैं। खासकर यह देखते हुए कि देश के कुल घरों में से आधे से अधिक अपनी आजीविका के लिए पूरे या आंशिक तौर पर कृषि से होने वाली आय पर निर्भर हैं। इसके अलावा सरकार इस बात की प्रतिबद्धता जता चुकी है कि उत्पादकों को उनकी चुकता लागत और परिवार के श्रम पर 50 फीसदी का मुनाफा दिया जाएगा।

इसमें दो राय नहीं कि एमएसपी को कानूनी अधिकार बनाने की मांग को तवज्जो नहीं दी जा सकती है। यह न तो व्यावहारिक है और न ही इसका आर्थिक बोझ वहन किया जा सकता है। सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह बाजार की पूरी फसल एमएसपी पर खरीद ले। निजी व्यापारियों को भी ऐसा करने को नहीं कहा जा सकता है। परंतु किसानों को उपज का उचित मूल्य न मिलना आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है। कृषि उपज के प्रतिफल को तार्किक बनाने के लिए तरीके और साधन तलाशने होंगे। इस नजरिये से उचित होगा कि 2018 में शुरू की गई किसान आय संरक्षण योजना को दोबारा शुरू किया जाए जिसे उचित परीक्षण किए बिना ही किनारे कर दिया गया। प्रधानमंत्री अन्नदाता आय संरक्षण अभियान (पीएम-आशा) जैसे कल्पनाशील नाम वाली इस योजना का लक्ष्य था किसानों के बाजार जोखिम का बचाव करना। इसके तीन घटक थे जिनमें से दो को उचित बदलाव के बाद आजमाया जा सकता है। इसमें अहम फसलों वाले चुनिंदा इलाकों में सरकारी एजेंसियों द्वारा सरकारी खरीद आधारित बाजार हस्तक्षेप शामिल है, जो आज किया जा रहा है। दूसरा है क्षेत्रवार उत्पादन लागत आधारित आदर्श मूल्य के अंतर की भरपाई के लिए भाव के अंतर की भुगतान करना। जब तक खेती को आर्थिक दृष्टि से व्यवहार्य बनाने का कोई उपाय नहीं सामने आता, नाराज किसानों को शांत करना मुश्किल लगता है।

कूटनीतिक कामयाबी

संपादकीय

अफगानिस्तान के हालात पर दिल्ली में आठ देशों के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकारों की बैठक का सफल आयोजन कर भारत ने यह संदेश दे दिया है कि वह इस संकटग्रस्त मुल्क को बचाने के लिए हर संभव प्रयास करेगा। अब तक माना जा रहा था कि अफगानिस्तान के मसले पर भारत निर्णायक पहल करने से बच रहा है और 'देखो व इंतजार करो' की नीति पर चल रहा है। इससे लगा था कि अफगानिस्तान को लेकर भारत कुछ कर पाने की स्थिति में है नहीं। लेकिन रूस, ईरान और अफगानिस्तान के पांच पड़ोसी देशों उज्बेकिस्तान, किर्गिस्तान, ताजिकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और कजाकिस्तान के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकारों की बैठक कर भारत ने जिस तरह से कदम बढ़ाए हैं, उसे बड़ी कूटनीतिक कामयाबी के रूप में देखा जाना चाहिए। यह कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि इतने देशों ने भारत के अनुरोध और पहल को स्वीकार किया और अफगानिस्तान से जुड़े मुद्दों पर चर्चा की। बैठक में भारत ने पाकिस्तान और चीन को भी बुलाया था, पर दोनों देशों ने इस बैठक से कन्नी काट ली। जाहिर है, ये दोनों देश अफगानिस्तान के मुद्दे पर भारत के कूटनीतिक प्रयासों को पचा नहीं पा रहे हैं। इससे इन दोनों के भारत विरोधी रुख की ही पुष्टि होती है।

दिल्ली क्षेत्रीय सुरक्षा संवाद में सामूहिक चिंता यह उभर कर आई कि अफगानिस्तान की जमीन से चलने वाली आतंकी गतिविधियों, कट्टरतावाद और नशीले पदार्थों की तस्करी से निपटा कैसे जाए। भारत तो शुरू से ही इस बात पर चिंता व्यक्त करता रहा है कि पाकिस्तान की तरह कहीं अफगानिस्तान भी आतंकी गतिविधियों का एक और गढ़ न बन जाए। इसलिए बैठक के बाद जारी घोषणापत्र में सभी देशों ने एक स्वर में आतंकवाद के खतरे से निपटने के लिए एकजुट होकर काम करने पर सहमति जताई। यह तो सारे देश समझ ही रहे हैं कि अगर मिलकर अफगानिस्तान की चुनौतियों का सामना नहीं किया तो इससे क्षेत्रीय शांति भी खतरे में पड़ जाएगी। इसलिए कोशिशें ऐसी हों जिससे तालिबान पाकिस्तान जैसे देशों के प्रभाव से मुक्त होकर पड़ोसी देशों और भारत जैसे हितैषी देशों की चिंताओं को समझे। अफगानिस्तान के मानवीय संकट को देखते हुए कोई भी देश तालिबान से टकराव नहीं चाहता, बल्कि उसकी मदद करना चाहता है। यही दिल्ली संवाद का मकसद भी है।

गौरतलब है कि अफगानिस्तान इस वक्त भयानक संकटों का सामना कर रहा है। देश में भुखमरी के हालात हैं। लाखों लोग पहले ही पलायन कर चुके हैं। सत्ता को लेकर तालिबान के भीतर गुटों में ठनी हुई है। देश के अंदरूनी मामलों में पाकिस्तान का दखल मुश्किलों को और बढ़ा रहा है। रोजाना हो रहे आतंकी हमलों में निर्दोष नागरिक मारे जा रहे हैं। तालिबान की सत्ता को कोई देश मान्यता दे नहीं रहा। अफगानिस्तान के इन हालात का असर पड़ोसी देशों पर पड़ना स्वाभाविक है। जहां तक भारत का सवाल है तो वह लंबे समय से अफगानिस्तान के विकास में बड़ा भागीदार रहा है। वहां संसद भवन के निर्माण, सड़कों का नेटवर्क खड़ा करने से लेकर बांध, पुलों के निर्माण तक में भारत ने मदद की है। पर मुश्किल तालिबान सत्ता को मान्यता देने को लेकर बनी हुई है। दो दशक पहले भी भारत ने तालिबान की सत्ता को मान्यता नहीं दी थी। जाहिर है, इसमें बड़ी अड़चन खुद तालिबान ही है। जब तक तालिबान अपनी आदिम सोच नहीं छोड़ता, मानवाधिकारों का सम्मान करना नहीं सीखता, आतंकी गतिविधियों पर लगाम नहीं लगाता, तब तक कौन उसकी

मदद के लिए आगे आएगा? अब यह तालिबान पर निर्भर है कि वह दिल्ली में हुए क्षेत्रीय सुरक्षा संवाद को किस तरह लेता है और कैसे सकारात्मक कदम बढ़ाता है।

Date:11-11-21

धरती बचाने की चुनौती

अतुल कनक



पिछले तीन दशकों में सारी दुनिया में जिस तरह से प्राकृतिक उथल-पुथल मची है, उसने दुनिया भर के बुद्धिजीवियों को आगाह कर दिया है कि अगर हम अब भी वातावरण में जहरीली गैसों के उत्सर्जन को लेकर सावधान नहीं हुए, तो समूची मानवता के लिए आने वाले दिन बहुत ही कठिन होंगे। कहीं जंगल जल रहे हैं, तो कहीं बिन मौसम बरसात हो रही है और बाढ़ आ रही है, कहीं भूस्खलन जैसी आपदा देखने को मिल रही है, तो कहीं समुद्र का जल स्तर खरतनाक तरीके से बढ़ता हुआ देखा जा रहा है। बेहद ठंडे माने जाने वाले प्रदेशों में भी तापमान में आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ रहा है। वैज्ञानिक इन घटनाओं का कारण ग्रीन हाउस प्रभाव को मानते हैं। ग्रीन हाउस प्रभाव यानी

वातावरण में जहरीली गैसों का आवश्यकता से अधिक उत्सर्जन। जीवाश्म ईंधन के बढ़ते प्रयोग से लेकर एअरकंडीशनर, फ्रिज जैसे उपकरणों के अतिप्रचलन और कोयले से उत्पादित विद्युत पर हमारी बढ़ती निर्भरता जहरीली गैसों के उत्सर्जन का बड़ा कारण है। रही-सही कसर उन जंगलों की कटाई ने पूरी कर दी, जो कार्बन डाइआक्साइड जैसी गैसों को अवशोषित कर लिया करते थे। हालत यह है कि वैज्ञानिक अब तो इस बात तक की कल्पना करने लगे हैं कि यदि यही सब चलता रहा तो क्या भविष्य के मानव को अपने साथ कृत्रिम आक्सीजन का सिलेंडर लेकर चलना होगा! इस कल्पना को फिजूल इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि हवा साफ करने वाले उपकरण (एअर प्योरिफाइर) का कारोबार गति पकड़ चुका है।

वायुमंडल में बढ़ते प्रदूषण ने दुनिया को चिंतित कर दिया है। पिछले कुछ सालों से दुनिया भर में इस बात पर विमर्श बहुत प्रबल हुआ है कि मानवता को कार्बन उत्सर्जन के दुष्प्रभावों से कैसे बचाया जाए? दुनिया भर के नीति नियंता इस या उस मंच पर पर्यावरण संरक्षण के मुद्दे पर परस्पर विचार करते दिख रहे हैं। यह महत्वपूर्ण है कि बढ़ते कार्बन उत्सर्जन के दुष्प्रभावों से मानवता को बचाने के दो ही तरीके हो सकते हैं। एक यह कि परंपरागत ईंधन स्रोतों पर निर्भरता को कम किया जाए और दूसरा यह कि उन जंगलों की सुरक्षा की जाए जो कार्बन डाइआक्साइड को अवशोषित कर लेते हैं।

दुनिया में शांति और सकारात्मकता की स्थापना तथा संरक्षा के लिए सक्रिय संस्था संयुक्त राष्ट्र की पहल पर सन 2015 में पेरिस में सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में दुनिया भर के देशों ने कार्बन उत्सर्जन पर इस तरह नियंत्रण स्थापित करने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की थी कि धीरे-धीरे कार्बन उत्सर्जन शून्य हो जाए और पृथ्वी के बढ़ते हुए तापमान को नियंत्रित किया जा सके। लेकिन विसंगति यह रही कि जो देश अपने संसाधनों के दम पर इस दिशा में अन्य देशों के लिए एक मिसाल हो सकते थे, उनमें से भी कई अपनी जिम्मेदारियों के प्रति उदासीन रहे। बेशक गरीब देशों के लिए तो परंपरागत ऊर्जा संसाधनों को त्याग कर नवीनीकृत ऊर्जा संसाधनों की स्थापना करना इसलिए एक दुरूह कार्य हो सकता है क्योंकि उनकी अपनी आर्थिक सीमा होती है। इसीलिए करीब एक दशक पहले विकसित देशों ने करीब एक दशक पहले यह वादा किया था कि जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों से निबटने के लिए वे हर साल सौ अरब डालर देंगे। लेकिन विकसित देशों ने न तो इस अवधि में अपने उस वादे को निभाया और न ही हाल में ग्लासगो में जलवायु शिखर सम्मेलन में उस प्रतिबद्धता को दोहराना ही आवश्यक समझा।

देखा जाए तो संकट ऐसे ही नहीं गहरा रहा। ज्यादातर देशों की अपनी मजबूरियां और राष्ट्रीय हित आड़े आ रहे हैं। हैरानी की बात यह है कि बहुत सारे देशों ने अब तक यह घोषित नहीं किया है कि वे शून्य कार्बन उत्सर्जन की स्थिति को कब तक हासिल करने की कोशिश करेंगे। सऊदी अरब की अर्थव्यवस्था का आधार जीवाश्म ईंधन है और इसलिए वह जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए आवश्यक कदम उठाने में उत्साह नहीं दिखा रहा। लेकिन रूस और आस्ट्रेलिया जैसे देशों का भी रवैया निराशाजनक ही रहा। ग्लासगो सम्मेलन में मीथेन उत्सर्जन को कम से कम तीस प्रतिशत घटाने के जिस संकल्प पत्र पर हस्ताक्षर किए गए, उस पर भी चीन, रूस, आस्ट्रेलिया और भारत जैसे कुछ देशों ने अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त नहीं की। भारत उन देशों से भी अलग हो गया है जिन्होंने वनों की कटाई पर नीतिगत अंकुश लगाने संबंधी समझौते पर हस्ताक्षर किए हैं।

लेकिन भारत ने पहली बार कार्बन उत्सर्जन शून्य करने संबंधी प्रतिबद्धता को प्रदर्शित किया है। शिखर सम्मेलन के अपने उद्बोधन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने दुनिया को जो 'पंचामृत' सूत्र दिया, उसने दुनिया को एक राह दिखाई है कि बिना प्रकृति से रिश्ता कायम रखे हम मानवता के सुख को सर्वोद्दिष्ट नहीं कर सकेंगे। मानवता को बचाने के लिए हमें सूर्य के साथ चलना होगा। इसका सीधा सा आशय यह है कि हमें सूरज की ऊर्जा पर अपनी निर्भरता बढ़ानी होगी। हालांकि भारत सहित दुनिया के अधिकांश देशों को सौर ऊर्जा के उपयोग के संसाधन बढ़ाने के लिए लंबा रास्ता तय करना है। पनबिजली घर और परमाणु बिजली घर भी एक विकल्प हो सकते हैं, लेकिन इनके लिए भी विकासशील देशों और गरीब देशों को बहुत बड़े बजट की आवश्यकता होगी। कोरोना महामारी के तुरंत बाद इस बजट को जुटा पाना सबके बस में नहीं होगा।

परंपरागत ऊर्जा साधनों से मुक्ति पाने के लिए वैकल्पिक साधनों का एक पूरा संजाल खड़ा कर पाना भी भारत जैसे विशाल देशों के लिए कोई आसान नहीं है। मसलन बिजली से चलने वाली कारों के लिए देशभर में पर्याप्त चार्जिंग स्टेशनों को स्थापित करना चुनौतीपूर्ण काम है। लेकिन पुरानी कहावत है कि जहां चाह होती है, वहां राह मिल ही जाती है। भारत ने सन 2070 तक अपने यहां कार्बन उत्सर्जन शून्य स्तर पर लाने का वादा किया है। उम्मीद की जा सकती है कि अपने कड़े फैसलों के लिए चर्चा में रही भारत की मौजूदा सरकार इस दिशा में भी कुछ ठोस कदम उठाएगी। मसलन, भारत में सन 2030 तक बिजली उत्पादन क्षमता का आधा उत्पादन नवीकरणीय स्रोतों जैसे सौर ऊर्जा, पनबिजली आदि से करने का लक्ष्य प्राप्त कर लेगा।

हालांकि अकेले भारत की कोशिशों से सारी पृथ्वी का संरक्षण सुनिश्चित नहीं हो सकेगा। लेकिन भारत इस प्रसंग में दुनिया को एक राह तो दिखा ही रहा है। वरना जलवायु शिखर सम्मेलन के दौरान जानी मानी पर्यावरण संरक्षण कार्यकर्ता ग्रेटा थनबर्ग का दिया यह बयान महत्वपूर्ण हो जाता है कि 'यह सम्मेलन विश्व भर के नेताओं के लिए ऐसे पाखंड का मंच बन गया है, जहां वे यह दिखाते हैं कि जलवायु परिवर्तन के लिए वो संवेदनशील हैं। वास्तव में हम उस चिंतन से बहुत दूर हैं, जो इस संबंध में जरूरी है।' ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बोरिस जानसन ने तो यह भी कहा कि दुनिया इस समय तबाही के डिवाइस से जुड़ी है। जबकि संयुक्त राष्ट्र महासभा के अध्यक्ष अब्दुल्ला शाहिद ने चिंता प्रकट करते हुए कहा कि हमारे पास जलवायु परिवर्तन के कारण उपजे संकट को हल करने के लिए क्षमता और संसाधन मौजूद हैं, लेकिन हम पर्याप्त कदम नहीं उठा रहे हैं। उम्मीद है प्रकृति से जुड़ाव की पहल का आह्वान इस स्थिति को बदल सकेगा जिसे रेखांकित करते हुए संयुक्त राष्ट्र महासचिव एंटोनियो गुतेरेस ने ग्लासगो में ही कहा-'हम खुद अपनी कब्रें खोदने के काम में लगे हुए हैं। हमें इसे रोकना होगा।'
